

पोस्ट बॉक्स नं. 203, नाला सोपारा: सामाजिक मूल्य का नया संदर्भ

सरोज कुमारी शर्मा, सहायक प्राध्यापक

ननी भट्टाचार्य स्मारक महाविद्यालय

जयगांव (पश्चिम बंगाल)

ईमेल : saroj.kumari.sharma@gmail.com

आज का समय अस्मिता मूलक विमर्शों का समय है। समाज के अंतर्गत स्त्री-पुरुष व्यक्ति के रूप में नाना संबंधों, धर्मों, जातियों में बंधकर अपने अस्तित्व और अस्मिता की लड़ाई लड़ते आ रहे हैं। ये समाज के द्वारा कभी स्वीकृत होते हैं तो कभी प्रताड़ित, कभी उपेक्षित पर इतना होने पर भी समाज इनके अस्तित्व को पूर्णतः नकारने में असमर्थ रहा है। पर इसी समाज में एक वर्ग ऐसा भी है जिसे सदियों से न मनुष्य ही न समझा गया और न ही समाज का हिस्सा स्वीकारा गया। अपने उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा' में चित्रा मुद्गल ने ऐसे ही उपेक्षित और वंचितों का वर्णन किया है।

लेखिका के अनुसार समाज के अंदर असामाजिक, मनुष्य होकर मनुष्यत्व से वंचित, संवेदनशील होकर संवेदनहीनता का तमगा पहने, कर्मठ होते हुए भी लाचारी और बेबसी से आक्रांत मनुष्य जिसे हम कभी किन्नर, कभी हिजड़ा और कभी थर्ड जेंडर या ट्रांसजेंडर के नाम से संबोधित करते हैं, वे आज भी अभिशप्त जीवन जीने को बाध्य हैं।

लम्बे समय से ट्रांसजेंडर की लड़ाई रही कि उन्हें भी 'मनुष्य' समझा जाए। आज कानूनी प्रावधान के अंतर्गत उन्हें स्त्री-पुरुष के साथ 'तीसरे दर्जे' में शामिल अवश्य कर लिया है। लेकिन यहीं से चित्रा मुद्गल अपनी रचना 'पोस्ट बॉक्स न. 203 नाला सोपारा' में एक अलग मांग उठाती हैं। चित्रा मुद्गल जोरदार ढंग से यह स्पष्ट करना चाहती हैं कि इस वर्ग की लड़ाई स्वयं को 'तीसरे दर्जे' में रखने के लिए नहीं बल्कि प्राकृतिक रूप से निर्मित स्त्री-पुरुष में से किसी एक का चयन करने की उन्हें छूट दी जाए, के लिए है। क्योंकि तीसरे दर्जे में रखकर इस वर्ग के साथ फिर से सामाजिक भेदभाव की अनीति ही उभर कर सामने आयेगी---“समाज को ऐसे लोगों की आदत नहीं है और वे आदत डालना भी नहीं चाहते पर उसे विश्वास है, हमेशा ऐसी स्थिति नहीं रहने वाली। वक्त बदलेगा। वक्त के साथ नजरिया बदलेगा।”1 परिवार के बीच से छिटककर नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त ऐसे 'बीच के लोगों' को मनुष्य माना जाय, यही लेखिका का संघर्ष रहा है।

हमारे समाज की जड़ मानसिकता इस भेद के लिए जिम्मेदार है जिसके चलते परिवार भी ऐसी संतान को तिरस्कृत छोड़ देता है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब समाज की सोच ऐसे लोगों को लेकर बदलेगी। लेखिका के अनुसार --- “समाज की मानसिकता बदलनी होगी। लेकिन बदलेगी कैसे? कोई है विकल्प? है। किसी को पहल करनी होगी। किसी अभिभावक को पुकार लगानी होगी। सड़ी-गली मान्यताओं को फाड़कर फेंक देना होगा। जला देना होगा। भस्म कर देना होगा। दुस्साहस करना होगा। मात्र साहस भर पर्याप्त नहीं। जननांग दोषी औलाद से क्षमा मांगते हुए, सार्वजनिक रूप से घोषित करते हुए....हम अपनी अमानवीय भूल का परिष्कार करना चाहते हैं। अपने बच्चे की घर वापसी चाहते हैं।”2 यह एक स्वस्थ नयी दृष्टि है, नया सामाजिक मूल्य है। यह नई नैतिकता है। इसी बोध को चित्रा मुद्गल द्वारा जागृत और बनाए रखने का प्रयास किया गया है।

समाज द्वारा उपेक्षित होते हुए भी एक सामान्य मनुष्य की भांति इनके अंदर भी 'परिवार' को लेकर एक अदद सपना है। मानवीय भावनाएं सभी मनुष्यों में एक जैसी ही होती हैं। दिल के साथ दिमाग भी इनमें सामान्य मनुष्य की तरह ही होता है। ये भी अपना परिवार, बच्चे चाहते हैं। लिंगदोष की वजह से ये संतान पैदा नहीं कर सकते, इस वास्तविकता को जानते हुए भी संतान सुख की इनमें भी आकांक्षा रहती है। विनोद कहता है--- "जननांग विकलांगता बहुत बड़ा दोष है लेकिन इतना बड़ा भी नहीं कि तुम धड़ का मात्र वही निचला हिस्सा भर हो। मस्तिष्क नहीं हो, दिल नहीं हो, धड़कन नहीं हो, आँख नहीं हो। तुम्हारे हाथ-पैर नहीं हैं। हैं, हैं, हैं सब वैसा ही है जैसे औरों के हैं। यौन सुख लेने-देने से वंचित हो तुम, वात्सल्य सुख से नहीं। सोचो। बच्चे तुम पैदा नहीं कर सकते मगर पिता नहीं बन सकते, यह किसने नहीं समझने दिया तुम्हें?"3 लेखिका का स्पष्ट मानना है कि सामाजिक और पारिवारिक संबंधों को बनाए रखने का अधिकार इन्हें भी है और समाज इनसे इनके संबंध नहीं छीन सकता।

समाज द्वारा एक ओर तो इन्हें मनोरंजन का साधन माना जाता है तो दूसरी ओर मनुष्य इतना पाशविक बन गया है कि इनके साथ अनैतिक आचरण करने में भी लज्जा महसूस नहीं करता। उपन्यास 'नाला सोपारा' में पूनम जोशी के साथ बिधायक जी का भतीजा और उसके दोस्त ऐसी नीच हरकत करते हुए शर्म नहीं करते। रजनी प्रताप इस मानसिकता को स्पष्ट करती हैं ---“यौनिक अपूर्णता के बावजूद किन्नरों को शारीरिक यौनाचार का शिकार होना पड़ता है। अतः उनको समाज की दोहरी मार झेलनी पड़ती है- पहला, अपूर्ण देह के साथ जीवनयापन करना पड़ता है और दूसरा, बलात्कार का दंश भी सहना पड़ता है।”4 समाज में दोहरी मार झेलते ये लोग तब तक उपेक्षित रहेंगे जब तक इन्हें भी समाज द्वारा स्वीकारा नहीं जाएगा।

यह सच है कि इन लोगों ने सदियों से मनुष्य होकर भी समाज में मनुष्य की तरह सम्मान नहीं पाया है। इनका जीवन विडम्बनाओं से भरा हुआ है। एक तरफ तो समाज ने किसी शुभ कार्य में इनको आशीषने का अधिकार दिया है, तो वहीं समाज और परिवार दोनों के लिए इनके साथ के संबंध को कलंक भी माना है। चित्रा मुद्गल इस द्वंद्व को स्पष्ट करते हुए कहती हैं ---“दुनिया भर के तिरस्कृत, दमित, शोषित, अधिकारच्युत वंचितों, यहाँ तक कि आधी आबादी और दलितों को भी हाशिये ने अपने भीतर मुड़ी भर हाशिया उपलब्ध कराया है लेकिन यह क्रूर विडम्बना ही है कि लिंग वंचितों को हाशिये में भी कोई हाशिया नहीं मिला। धर्म, समाज, राजनीति और स्वयं मनुष्य ने मनुष्य होकर मनुष्यों पर सदियों-सदियों से जो यह अमानुषिक अन्याय किया है-सामाजिकता से उन्हें बहिष्कृत-तिरस्कृत कर उनसे उनके मानवीय रूप में जीने का अधिकार छीन लिया है।”⁵

चित्रा मुद्गल ने किन्नर समाज के लिए कोई बहुत बड़ा जनान्दोलन अपने साहित्य के माध्यम से खड़ा नहीं किया, बस समाज की मुख्यधारा से ससम्मान ऐसे लोगों को परिवार, समाज और राजनीति द्वारा स्वीकारने की अपील की है---“इसमें हमारे समाज में लम्बे समय से चली आ रही उस मानसिकता का विरोध है, जो मनुष्य को मनुष्य समझने से बचती रही है।...महज शारीरिक कमी के चलते किसी इंसान को असामाजिक बना देने की क्रूर विडम्बना है।...क्या शब्द बदल देने भर से अवमानना समाप्त हो सकती है?.....परिवार के बीच से छिटककर नारकीय जीवन जीने को विवश किए जाने वाले ये ‘बीच के लोग’ आखिर मनुष्य क्यों नहीं माने जाते? क्या यह उम्मीद नहीं की जानी चाहिए कि परिवार व समाज अपनी सोच के मकड़-जाल से बाहर निकल आयेंगे, ठीक उसी तरह जैसे इस उपन्यास के मुख्य चरित्र की माँ वंदना बेन शाह अपने बेटे से घर वापसी की अपील करते हुए एक विस्तृत माफीनामा अखबारों में छपवाती है। यह अपील एक व्यक्ति भर की न रहकर समूचे समाज की बन जाए, यही वस्तुतः कथाकार की मूल मंशा है।”⁶

इस तरह के भेद से मनुष्यता का मूल्य खंडित ही होता है। हमारे भारतीय समाज में अनेक तबके अपने-अपने स्तर पर वंचित, लांछित है, अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं, विमर्श कर रहे हैं। पर दुख की ही बात है कि लम्बे समय से ही किन्नर की भावना, इच्छा, अस्तित्व को नजरअंदाज ही नहीं किया गया है बल्कि दृढ़ता से यह माना जाता रहा है कि समाज के लिए न ही उनका कोई अस्तित्व है और न ही उससे समाज का कोई प्रयोजन। ऐसे उपेक्षित, वंचित सोच के बीच से मनुष्यता के मूल्य को सुरक्षित रख पाना कठिन दिखता है, पर असम्भव नहीं।

मात्र शारीरिक विकार (लिंग दोष) के लिए सृष्टि की रचना नर या नारी में से इन्हें कोई एक न समझकर तीसरे दर्जे में डालना समाज में कभी भी उनके प्रति नज़रिए को सकारात्मक नहीं बना पायेगा। यहाँ मेरे विश्लेषण का मुख्य बिंदु यह स्पष्ट करना है कि चित्रा मुद्गल समाज की मुख्यधारा में ऐसे वंचितों को लाने का प्रयास करती हैं जो वास्तव में मानवीय संवेदना को नये ढंग से संवेदनशील करता है।

अपने एक ही उपन्यास ‘पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा’ में चित्रा मुद्गल ने इस वेदना को पूरी संवेदना के साथ अभिव्यक्त किया है। बिन्नी उर्फ विनोद जैसे लोग अपने लिए अलग पहचान नहीं बल्कि समाज की मुख्यधारा (स्त्री अथवा पुरुष) दोनों में से किसी एक में रहने का अपनी मर्जी से अधिकार चाहते हैं। परिवार चाहते हैं, समाज चाहते हैं, परिवार के अंदर अपनों का साथ और सौहार्द चाहते हैं। समाज द्वारा बिना भेद स्वीकृति चाहते हैं, अपने लिए शिक्षा का अधिकार चाहते हैं, भावना को प्रदर्शित करने का अधिकार, साथ ही दूसरों द्वारा अपनी भावना का सम्मान भी चाहते हैं। मगर ऐसा अभी तक पूर्णतः संभव नहीं हो पाया है क्योंकि हमारा समाज और हमारी क्षुद्र मानसिकता आड़े आती है। लिंग दोष रह सकता है लेकिन ऐसे दोष के साथ पैदा हुए बच्चों का बचपन, उनका भविष्य सुरक्षित रह सकेगा, अपने होने का गर्व ऐसे लोग भी कर पायेंगे, यही कोशिश चित्रा मुद्गल की अपने उपन्यास द्वारा रही है। राजनीतिक फायदे के तहत इन्हें आरक्षण देना उसी प्रकार है जिस प्रकार भिखारी को भीख देकर आजीवन उसे पराश्रित बनाये रखने की, उपेक्षित, लांछित रखने की साज़िश। उन पर की गई दया उनमें आत्मसम्मान का भाव नहीं भर सकती। उनमें आत्मबल पैदा करने में असमर्थ रहती है। चित्रा मुद्गल जो कुछ विनोद द्वारा जनसभा में कहलवाती हैं, वह वास्तविक जरूरत है, इसे समझना होगा---“ मैं सरकार से अपील करता हूँ इस सभागार में लिंग दोषी बिरादरी की घर वापसी को वह सुनिश्चित करे, कानून बनाए, बाध्य करे अभिभावकों को। घर से बहिष्कृत बच्चों को वह जिस भी उम्र के पड़ाव में हो, अपने साथ रखें।.....आप सबसे भी अपील है मेरी।.....बरजिए बिरादरी को।.....नहीं जानते। कौन लोग करते हैं आपका इस्तेमाल? वो, जो इंसान नहीं समझते। आपके जीने-मरने से उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता।.....इस अवमानना को झेलने से इंकार कीजिये। कुली बनिए। मिस्त्री बनिए, ईंट-गारा ढोइए, जो चाहे, सो कीजिये, पाएंगे मेहनत के कौर की तृप्ति।.....आरक्षण निदान नहीं है। आत्मचेतना बुनियादी अधिकारों की मांग का पहला पायदान है।”⁷ ऐसा किये बगैर हम इन्हें अलग-थलग ही करेंगे, जोड़ नहीं पायेंगे। स्त्री माँ के रूप में लाचार दिखेगी, पुरुष पिता के रूप में अपने स्वाभिमान के आगे मजबूर। चित्रा मुद्गल ने इस विषय पर समाज के अंदर विमर्श करने की पहल की है और आने वाले समय में ऐसे संकट से सावधान किया है।

संदर्भ:

- 1.नाला सोपारा, चित्रा मुद्रल, पृ-10
- 2.नाला सोपारा,चित्रा मुद्रल, पृ-177
- 3.नाला सोपारा,चित्रा मुद्रल, पृ-50
- 4.किन्नर समाज की चुनौतियां, रजनी प्रताप, नाला सोपारा के प्रसंग में, पृ-67
- 5.सामयिक सरस्वती का अप्रैल-सितम्बर 2018 अंक, थर्ड जेंडर विशेषांक, सं. महेश भारद्वाज, चित्रा मुद्रल, पृ-1
- 6.फलैप का अंश, पोस्ट बॉक्स नं 203, नाला सोपारा
- 7.पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा चित्रा मुद्रल, पृ.186-187